бутун ёмонликлари учун тўфонга учраши акс эттирилади ва шу мазмундан келиб чиқиб ёзувчи ҳикоя сарлавҳасини “Огоҳлантириш” деб номлади. Мунир Утайба ҳикоя бош қаҳрамонининг монолог-мулоҳазалари орқали ўз фикрларини баён этгандек гўё:

“Тўфон бизларни чўктиради, шаҳримизни вайрон қилади. Дарҳақиқат, биз камолга етишмадик, гўёки хатоларимизни тўғрилаш учун қоламиз. Эй, одамлар... Эй, одамлар... Эй одамлар...У ўзини тубсиз жарликка ташлаб юборилгандек ҳис қилди.”

М.Утайба “Вишну маъбуди ўлди, у ҳам ўлади, даҳшатдан ўлади” жумласида фалсафий фикрни мужассамлайди. Инсониятнинг тубанликлари натижасида ҳатто маъбуд ҳам даҳшатга тушиб, унга ёрдам беришга қодир эмас. Ёзувчи бу ерда экзистенцилистик ғояни илгари суради, яъни инсон ўз қилган ишига ўзи жавобгар, у ўз хатоларини ўзи тўғрилаши керак, ўз ишига ўзи масъул ва жавобгардир. Ҳикоя ечими “Шаҳар аҳолисини жавоби йўқ савол қийнайди: “Тўфон бўладими ёки...?!”” каби савол жумласи билан якунлаши орқали масал жанридаги “қиссадан ҳисса чиқариш” каби инсониятни бўлажак тўфондан огоҳлантириш, тўфоннинг бўлмаслиги учун инсон ўз қилган хатоларини вақтида тўғрилаши лозимлиги ва огоҳ бўлиши кераклиги уқтирилади.

Хулоса қилиб айтганда, араб адабиётида замонавий муаммоларни бадиий аск эттиришда жаҳон мифологияси, миллий афсона ва асотирларга, халқ ривоятларига, фантазияларга, муқаддас диний китобларда келтирилган ривоятларга мурожаат қилиш кучайди. Мисрлик ёзувчи Мунир Утейба “Огоҳлантириш” ҳикоясида ҳинд халқининг қадимий мифларидан бугунги замон, бугунги инсон қиёфасини, ундаги ахлоқий, маънавий камчилик ва иллатларни ёритишда истеъфода этди ва бу орқали инсониятни огоҳликка даъват этмоқда.

ҲИНДИСТОНДАГИ ЗАМОНАВИЙ АДАБИЙ ТАНҚИДЧИЛИК ҲАҚИДА

भारत में आधुनिक साहित्यिक आलोचना पर

DEVENDR CHAUBEY

Jawaharlal Nehru university, India

Аннотация. *Мақолада бугунги кун ҳинд танқидчилиги ва унга бўлган муносабат ҳақида турли адабиётшунос олимларнинг фикрлари қиёсий ўрганилган ва унинг энг асосий, давр муаммоларини тўғри акс эттирган, тўғри баҳолаган адабиётшунослар номи келтирилган. Хусусан, охирги ўн йилликда ҳинд адабиётида бўлган кўпгина ўзгаришлар, янги номлар, янги мавзу ва образлар ҳақида ҳам сўз юритилган. Айниқса, ҳинд халқининг таниқли шахслари – Махатма Ганди, Амбедкар, Бхагат Синх, Рамасвами ва шунга ўхшаш жамиятда туб бурилиш ясаган шахсларнинг фаолияти ҳинд халқининг ҳаёт ҳақидаги тасаввурларини ҳам ўзгартириб, янгича дунёқарашли инсонларни яратгани ҳақида сўз юритган. Бу ижтимоий-сиёсий ўзгаришларга шу давр адабиётшунослари – Намвар Синх, Вишванатх Трипатхи, Менежр Пандей, Шивкумар Мишра, Ражендра Ядава ва бошқалар ҳам ўз муносабатларини билдирдилар ва давр адабиётшунослигининг янги саҳифасини очиб бердилар.*

Мана шу адабиётшунослар фикрлари орқали бугунги Ҳиндистонни тушуниш мумкинлигига ойдинлик киритилган.

Таянч сўз ва иборалар: *сюжет, жамият, адабиётшунос, мустақиллик, образ, адабий танқид, дунёқараш, ижтимоий-сиёсий қарашлар, пероснаж, озодлик.*

Аннотация. *В статье сделана попытка сравнителное изучение мнений разных литературоведов-критиков о сегодняшней Индии и определены имена тех, кто объективно оценил сегодняшнюю эпоху.*

В статьи, высказаны мнения о появлении новых имен, новых сюжетов и образов в литературном процессе данного периода. В частности, говорится о деятельности таких известных личностей Индии как Махатма Ганди, Амбедкар, Бхагат Синх, Рамасвами и других, которые в корне изменили, обновили представление индийского народа о жизни. В статье приводятся взгляды таких видных литературоведов как Намвар Синх, Вишванатх Трипатхи, Менеджер Пандей, Шивкумар Мишра, Раджендра Ядав и других к этим изменениям и показал нвые страницы литературоведения XX века.

Автор через изучение взглядов литературоведов критиков дает понять о том, что из себя представляет сегодняшняя Индия и его литература.

Опорные слова и выражения: *сюжет, общество, литературовед, незивисимость, образ, литературная критика, мировоззрение, общественно-политические взгляды, пероснаж, свобода.*

Abstract. *The article attempts to make a comparative study of the opinions of various literary critics about today's India and identifies the names of those who objectively assessed the present era. Through the study of literary critics, the author makes it clear what today's India is.*

In particular, opinions were expressed about the appearance of new names, new plots and images in the literary process of this period. In particular, it speaks about the activities of such famous personalities of India as Mahatma Gandhi, Ambedkar, Bhagat Sinh, Ramaswami and others, who radically changed, updated the Indian people's perception of life. The article presents the views of such prominent literary critics as Namwar Sinh, Vishwanath Tripathi, Manager Pandey, Shivkumar Mishra, Rajendra Yadav and others to these changes and showed the new pages of literary criticism of the twentieth century.

The author, through studying the views of literary critics, makes it clear what today's India and its literature are.

Keywords and expressions: *plot, society, literary critic, independence, image, literary criticism, worldview, socio-political views, perosnage, freedom.*

ख्सारः यह लेख समकालीन हिंदी आलोचना और साहित्य की वैचारिक संरचना के बहाने भारत देश और दुनिया को समझने का एक प्रयास मात्र है। पर, यहां हम इसका दावा नहीं करते; पर, इस छोटी सी पहल और हिंदी के एक बड़े आलोचक मैनेजर पाण्डेय के आलोचना कर्म के विश्लेषण के जरिये उन कुछ संदर्भों को समझने की कोशिश यहाॅ की गयी है जिनसे साहित्य की दुनिया का विस्तार होता है एवं वह किसी देश के जातीय संदर्भों के करीब पहुचती है,

पिछले कुछ दशकों से हिंदी साहित्य और विचारधारा की दुनिया में अनेक तरह के परिवर्तन आये हैं। उन परिवर्तनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, रामविलास शर्मा के जाने बाद प्रगतिशील चिंतन एवं विचारकों में आया एक नये प्रकार का बिखराव जिसने 1890 के बाद की दुनिया और जीवन को समझने का एक ऐतिहासिक एवं वर्गीय आधार दिया था तथा जिसका गहरा प्रभाव पूरी दुनिया सहित भारत पर भी पड़ा। 1918 के बाद जिस प्रकार महात्मा गाॅधी भारतीय राजनीति और सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करते हैं एवं बाद में अंबेडकर, भगत सिंह, ई वी रामास्वामी नायकन पेरियार, राममनोहर लोहिया आदि भारत के सामाजिक-राजनीतिक जीवन में आ रहे परिवर्तनों को समझने एवं उसे गतिशील बनाने का प्रयास करते हैं, उससे साहित्य और विचारधारा की दुनिया भी प्रभावित होती है। ये सारे विचारक भारत और यहां के समाज को समझने की कोंशिश करते हैं, बन रही नयी दुनिया के समानांतर देश के मानसिक भूगोल में आ रहे बदलाव को एक रचनानात्मक दिशा देने की कोशिश करते हैं तथा भारतीय परंपराएं, वर्ण, जाति, संप्रदायवाद, पितृसत्ता, सामाजिक हिंसा आदि उन कारकों को

सामूहिक चिंतन के केंद्र में लाते हंै जिन्हें समझे बिना भारत देश को समझना मुश्किल है। साहित्य में रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, मैनेजर पाण्डेय, शिवकुमार मिश्र, राजेंद्र यादव, रमेश कुंतल मेघ, रविभूषण, प्रदीप सक्सेना, धर्मवीर, विजय कुमार आदि जैसे पुराने एवं समकालीन आलोचक इन सवालों से टकराते हैं, संवाद करते हैं, उसके विध्वंस अथवा निर्माणकारी संरचनाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हैं; परंतु मैनेजर पाण्डेय अपने लेखन में इन सवालों को जिस बारीकी के साथ भरतीय चिंतन की परंपरा एवं आधुनिक विचारधाराओं से जोड़ते हुए एक समानांतर रेखा खड़ी करते हुए साहित्य के सामाजिक संदर्भों एवं संरचनाओं का सैद्धांतिकीकरण करते है, वह उन्हें समकालीन आलोचना एवं विचार के केंद्र में अलग खड़ा करता है। 1982 में कृष्ण कथा की परंपरा और सूरदास का काव्य, 1993 में भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, आदि मौलिक पुस्तकों के साथ ही अनूदित, संपादित पुस्तकों में- 2005 में देश की बात, 2009 में संपत्तिशास्त्र, 2009 में माधवराव सप्रेः प्रतिनिधि संकलन, 2012 में देवनारायण द्विवेदी की देश की बात, 2012 में सूर संचयिता, 2014 में पराधीनों की विजययात्रा, 2015 में लोकगीतों और गीतों में 1857, 2016 में मुगल बादशाहों की हिंदी कविता आदि किताबों में उस समाज और देश को समझने की कोशिश करते है। यहां ये आलोचक साहित्य और विचारधारा की दुनिया में के सहारे औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी ताकतों से टकराते एवं संवाद करते हुए स्वाधीनता के बाद के जनसमाज के सरोकारों को समझने की कोशिश करते है तथा उसे आलोचना एवं विचार का हिस्सा बनाते हुए रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी और रामविलास शर्मा की तरह हिंदी समाज के गौरव को भारतीय समाज एवं चिंतन का गौरव बनाना चाहता है। इसके लिए वह भारतीय और पाश्चात्य विचारधाराओं से मुठभेड़ करते हैं, आचार्य रामचंद्र शुक्ल की तरह उनके अंदर मौजूद देशीय तत्त्वों को वृहत्तर सामाजिक समुदायों से जोड़ते हुए हिंदी समाज के ज्ञान और उसके अर्थ का विस्तार करते है; आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की तरह शोषित-वंचित-उपेक्षित जनसमाज के अंतर्मन का सामाजीकरण करते हुए उसे स्वाधीन एवं नये भारत के विकास का प्रतिभागी बनाना चाहते है एवं रामविलास शर्मा की तरह माक्र्सवाद के संदर्भों को हिंदी की जातीय अस्मिताओं से जोड़ते हुए उसे प्रगतिशील भारत के वैकल्पिक इतिहास के रूप में खड़ा करते है; जहांॅ सभी के लिए समान और ठीक-ठीक जगह मिल सकें।

आखिर, ये लेखक हिंदी की दुनिया में ऐसा क्या करते है जो उन्हें उनके समानधर्मी भारतीय आलोचकों से अलग खड़ा कर देता है एवं उनका उल्लेख हिंदी की दुनिया में एक साहसी एवं विवेकशील आलोचक के रूप होने लगती हैै? हिंदी आलोचना में उनकी शुरूआत साहित्य के मूल्यांकन की ऐतिहासिक दृष्टि यानी कि माक्र्सवाद से होती है तथा साहित्य के समाजशास्त्र पर बात करते हुए वे आलोचना की सामाजिकता की बातें करने लगते है। यहांॅ, वे साहित्यिक सिद्धांतों के साथ संवाद करते है, उनकी व्याख्या करते है और हिंदी साहित्य को एक नया सैद्धांतिक आधार देते है। प्रसिद्ध विचारक एडवर्ड सईद ने अपने व्याख्यान के दौरान एक वक्तव्य दिया था जिसका उल्लेख बार-बार उनके प्रशसंक करते है कि ''आलोचना का कार्य है, सत्ता के सामने सच कहने का साहस।'' अगर इस कथन को हम ध्यान में रखें और 1964 में नेहरू के निधन एवं कम्युनिस्ट पार्टी में हुए विभाजन के बाद देशीय संदर्भ में उभरकर आये सबाल्टन आंदोलन, किसान आंदोलन, नक्सलवाद, ग्रमीण संघर्ष, समानांतर आंदोलन आदि पर विचार करें तो पता चलता है कि मैनेजर पाण्डेय हिंदी के इकलौते ऐसे आलोचक है जो साहस के साथ जो सच है, उसे कहते है; नित्यानंद तिवारी, विश्वनाथ त्रिपाठी, सत्यप्रकाश मिश्र, मधुरेश, नंदकिशोर नवल, रविभूषण आदि जैसे अपने समकालीन आलोचकों के साथ भी और रामविलास शर्मा, नगेंद्र, नामवर सिंह, शिवदान सिंह चैहान, रमेश कुंतल मेघ, खगेंद्र ठाकुर आदि जैसे वरिष्ठ आलोचकों के बीच भी। इस सच को कहने के लिए वे सटीक शब्दों का उपयोग करते है तथा बिना किसी भय के जनता एवं साहित्य चिंतकों के समक्ष अपनी बातें रखते हैं ताकि उनकी आवाज दूर-दूर तक जाए और साहित्य के जरिये भी देश को समझने एवं आत्मालोचन की प्रक्रिया शुरू हा सकेे। बौद्धिक ऐयासी, दलाल बुद्धिजीवी, भयावह भ्रांतियां, आर्थिक अराजकता, वैचारिक विभ्रम, इतराता पूॅजीवाद, अर्थपिशाच,

बौद्धिक फैशन आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जो उनकी आलोचना में अर्थ का विस्तार करते हैं एवं समकालीन यथार्थ से मुठभेड़ करते हुए जीवन के ऐतिहासिक सच को सामने रखते हैं। उदाहरण के लिए, जब मैनेजर पाण्डेय कहते है- ''पहले भारत में उपनिवेशवाद के साथ आधुनिकतावाद आया था। क्या अब भूमंडलीकरण के दौर में नव उपनिवेशवाद के साथ उत्तर आधुनिकतावाद आयेगा? क्या भारत जैसे देश जो पश्चिम का उपनिवेश रह चुके हैं, वे विचारों का उपनिवेश बनते रहने के लिए अभिशप्त है ? वह भी ऐसे विचारों का जो अब पश्चिम में मृत धोषित हो चुके हैं और जिनका खोखलापन साबित हो चुका है?''; तब साफ पता चलता है कि उनके दिमाग में क्या चल रहा है! वे इस बात की ओर संकेत भी करते है कि जिस देश की जनता का एक बड़ा हिस्सा आदिम स्थितियों में जी रहा हैं, दूसरा मध्ययुगीनता का शिकार हंै और तीसरा आधुनिक बनने के लिए संघर्ष कर रहा हैं; तब उस देश में उत्तर आधुनिकता मुट्ठी भर लोगों के लिए बौद्धिक फैशन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। 1998 में लेखों एवं अनुवादों की प्रकाशित किताब संकट के बावजूद में वे ये बातें तब कहते हैं, जब लेखन की दुनिया में संरचनावाद एवं उत्तर आधुनिकतावाद पत्र-पत्रिकाओं के लिए लोकप्रिय विचार बन चुका था और नयी-पुरानी पीढ़ी के अनेक लेखक उत्तर आधुनिकतावाद के सम्मोहन के शिकार थे। हिंदी के प्रकाशकों को इस विचारधारा में एक बड़ा बाजार दिखाई दे रहा था। कुछ एक विचारकों को छोड़कर हिंदी का पूरा वैचारिक जगत उत्तर आधुनिकतावाद पर नयी-नयी किताबें लिखकर मा्क्रसवाद एवं अन्य विचारों के अंत की घोषणा-पर-घोषण किये जा रहा था, तब वह साहस के साथ जा ॅक देरिदा की विकेंद्रीकरण की धारणा (क्म.बमदजमतपदह), भाषा को चिंतन का केंद्र बनाने की बात, मिशेल फूको की ज्ञान और सत्ता संबंधी धारणा (ज्ञदवूसमकहम पे चवूमत), जुलिया क्रिस्तोवा की पाठ का अंतवर्ती संबंध की धारणा (प्दजमत.जमगजनंसपजल) और साहित्य को रहस्यात्मकता (डी-मीस्टीफिकेशन) से मुक्त करने की धारणा आदि विशेषताओं की चर्चा करते हुए, इस कारण विरोध करते है कि पश्चिम के मृत विचारों पर हिंदी के आलोचक आखिर क्यों एक नयी इमारत खड़ी करना चाहते हैं? आखिर क्यों यह देश पश्चिम का उपनिवेश बनते रहने के लिए अभिशप्त है जबकि संरचनावाद की अनेक धारणाए ॅ या ''देरिदा की भाषा संबंधी चिंतन न केवल बौद्धों के भाषा संबंधी चिंतन से बहुत मिलता-जुलता है, बल्कि स्वंय देरिदा ने नागार्जुन के भाषा संबंधी चिंतन पर ध्यान दिया है और उसका उपयोग किया है।...पुराने साहित्यशास्त्र में ध्वनि को बहुत महत्व दिया गया है। ध्वनि की पूरी प्रक्रिया है और आनंदवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त द्वारा उसकी व्याख्या का जा ॅक देरिदा के भाषा चिंतन से बहुत दूर तक मेल दिखायी देता है।'' (देखें, उत्तर संरचनावाद को क्यों और कैसे पढ़ें; फ्रंसीसी चिंतन पर डा ॅ. मैनेजर पाण्डेय से हेमंत जोशी और देवेंद्र चैबे की बातचीत। पल प्रतिपल, अप्रैल-सितंबर 1992) के संदर्भ प्राचीन भारत में हुए भाषा संबंधी चिंतन से प्रभावित है।

अर्थात, अतीत में यूरोप ने जो ज्ञान भारत से लिया, उसे आधुनिक भारत क्यों नये चिंतन के रूप में स्वीकार करें? और अगर स्वीकार करें भी तो उसकी समीक्षा क्यों न करें ताकि जो ठीक-ठाक है, वही हमारे चिंतन का हिस्सा बने; जैसा कि मा्क्रसवाद आदि विचारों को शिवदान सिंह चैहान, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र आदि विचारकों सहित मैनेजर पाण्डेय ने भी स्वीकार किया तथा उसके सहारे हिंदी के प्रगतिशील साहित्य के मूल्यांकन का प्रयास किया। लेकिन मुश्किल यह है कि हिंदी के अनेक आलोचक इस प्रकार के पाश्चात्य विचारों को बिना समीक्ष के अपनाने के लिए तैयार बैठे है। इस क्रम में वे अपने एक निबंध आलोचना की सामाजिकता में सुधीश पचैरी के एक लेख-'कबीर, धर्मवीर और फूको की जीनियोला ॅजी' की निम्न पंक्तियों को उद्धृत करते हुए ''इंटरटेक्स्चुएलिटि के जमाने में सिर्फ मूर्ख ही दलित को कबीर में ढूँढ़ सकते हैं। जीनियोलोजिकल डिकंस्ट्रक्शन की यही खास बात है कि दलित कबीर की किताब में भले न हो, लेकिन

जीनियोलोजी के वर्तमानत्व और दलितवाद के युद्ध में कबीर एक प्राथमिक सांस्कृतिक टेक्स्ट हो सकते है।'' लिखते है कि ''अभी तो मेरी चिंता केवल यह है कि ऐसी हिंदी में लिखी आलोचना कितनी सामाजिक होगी। हिंदी आलोचना की भाषा का का एक और रूप वहां दिखाई देता है जहां आलोचना को रचना बनाने की कोशिश में व्यक्ति-वैचित्र्यवाद से होड़ करता उक्ति-वैचित्र्यवाद आलोचना की भाषा को 'संध्या-भाषा' बना देता है।'' यही काम एक जमाने में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी हिंदी आलोचना में कलावद, अभिव्यंजनावाद, व्यक्ति-वैचित्र्यवाद, प्रभावभिव्यंजक समीक्षा, फ्रायडवादी आलोचना आदि पाश्चात्य विचारों का विरोध करते हुए किया था जिसका विस्तार से उल्लेख वे 1929 में प्रकाशित हिंदी साहित्य का इतिहास में करते है तथा बाद में चिंतामणि के संग्रहित निबंधों में। महत्वपूर्ण बात है कि आचार्य शुक्ल 1917 की रूसी क्रांति या माक्र्सवाद का विरोध नहीं करते है और शायद यह भी एक कारण है कि हिंदी के माक्र्सवादी आलोचकों में रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र आदि उनका नाम आदर से लेते हंै तथा उनकी आलोचना पद्धति को आदर्श मानते हैं। एक आलोचक और साहित्य विचारक की यह भूमिका भी होती है कि वह अपने समय के अनावश्यक वैचारिक बाढ़ और शुक्ल जी के शब्दों में आ रहे 'कूड़-कड़कट' रोकने के लिए डटकर खड़ा हो जाए तथा स्वीकारने के पहले उसकी कड़ी परीक्षा करें। इतना ही नहीं, साकारात्मक विचारधाराओं का समर्थन करते हुए साहस के साथ अनावश्यक विचारों का विरोध भी करें और उसे हिंदी में आने से रोके ताकि शुक्ल जी के शब्दों में ''हमारे साहित्य के स्वतंत्र और व्यापक विकास में सहायता पहुॅचे''। (हिंदी साहित्य का इतिहास: रामचंद्र शुक्ल, 1985, पृष्ठ 391)

कहा जाता है कि अपने अनुशासन को एक ऊॅचाई प्रदान करने की यह भी एक पद्धति होती है कि आप पूरी आलोचनात्मक चेतना के साथ साहित्य के सामाजिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए आलोचना में साहस के साथ जो सच है, उसे सच कहें और जो झूठ है, उसेे झूठ। तभी संबंधित साहित्य और विचार की दुनिया का विस्तार होता है एवं रचनात्मक संरचना की गाॅठें खुलती हैं। नयी आलोचना की जमीन को तैयार करने के लिए इस प्रकार की आलोचनात्मक पहल करना जरूरी भी हैै। यहाॅ, साहित्य के सामाजिक पक्ष का अर्थ यह भी है कि व्यवस्था द्वारा वृहत्तर समाज पर किये जा रहे प्रहारों का ठीक-ठीक आकलन करना ताकि निन्यानवे प्रतिशत समाज द्वारा अपनी जरूरतों के लिये किये जा रहे संघर्ष को एक सही दिशा मिल सके। यह आलोचना और विचार का वही पक्ष है जिसे हाल के वर्षो में सोवियत संघ के विघटन के बाद 'आॅक्युपाई वाल स्ट्रीट' जैसे आंदोलन के दौरान लोगों ने देखा कि समाज, नव उदारवादी पूॅजी से पीड़ित हैं और मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में ''परिवर्तन की बेचैनी उसके मन में है, इसलिए 'एक प्रतिशत बनाम निन्यानवे प्रतिशत' वाल-स्ट्रीट का नारा था। एक प्रतिशत लोगों ने दुनिया की सारी पूॅजी पर कब्जा कर रखा है और बाकी लोग मर रहे है''। अर्थात, वे मानते है कि लेखकों को अपने साहित्य में ऐसे सवालों से मुठभेड़ करना चाहिए जो सामाजिक विकास एवं देशीय संरचनाओं को समझने के लिए जरूरी हैं। और आलोचकों को भी साहस के साथ सत्ता के सामने इस प्रकार के सच कहने अथवा प्रस्तुत करने का समानांतर विकल्प रखना चाहिए; तभी, सही मायने में वे साहित्य और आलोचना की दुनिया का नेतृत्व कर पायेंगे। समकालीन आलोचकों में मैनेजर पाण्डेय यह काम साहस के साथ करते है और इस संदर्भ में अपने सहधर्मी आलोचकों के साथ संवाद एवं मुठभेड़ करने के लिए हमेशा तैयार रहते है। इस प्रसंग में वे कई बार उन आलोचकों पर सवाल भी खड़ा करते हंै जो आलोचना में पक्षधरता और पक्षपात में फर्क नहीं करते है और अपनी सुविधा के अनुसार सिद्धांत बनाते रहते हैं। मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में ऐसे स्वधन्यमान् आलोचक कभी उत्साह में लेखक अथवा रचना की अतिरंजित प्रशंसा कर देते है तो कभी रक्तरंजित निंदा।

दरअसल, साहित्य और विचारधारा की दुनिया में ठीक-ठीक मैनेजर पाण्डेय का आगमन तब होता है, जब नेहरू के निधन के बाद जहाॅं एक तरफ ग्रामीण भारत के आमजन जमींदारी एवं सामंती व्यवस्था के खिलाफ तनकर खड़े हो रहे थे, वहाॅं दूसरी तरफ शहरी भारत सन् '70 के बाद वित्तीय एवं अन्य क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण के बाद एक वैश्विक ताकत बनकर उभरने के संकेत दे रहा था। साहित्य, सिनेमा, कला और विचारधारा की दुनिया में समानांतर आंदोलन अपनी धीमी उपस्थिति दर्ज कर रहा था। तभी आलोचना के जनवरी-मार्च 1974 के एक अंक में प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह का एक लेख प्रकाशित होता है- हिंदी साहित्य के पच्चीस वर्ष। इस लेख में नामवर सिंह आजादी के बाद के हिंदी साहित्य की उपलब्धियों का बखान करते हुए लिखते है कि '' स्वाधीनता के प्रारंभिक तीन-चार वर्षों के संक्रान्ति काल के बाद देश में सांस्कृतिक नवजागरण की एक लहर आयी जिसका प्रभाव साहित्य में एक प्रकार के नव-रोमांटिक उत्थान के रूप में प्रकट हुआ।'' यह लेख काफी प्रभावशाली है तथा इसमें नामवर सिंह स्वाधीनता के बाद के हिंदी साहित्य में उभरकर आई नयी रचनाशीलता का सर्मथन करते है तथा नयी कहानी, नयी कविता आदि का विश्लेषण करते हुए उस दौर के साहित्य को एक बड़ी उपलब्धि मानते हैं। यह सही भी है। कारण, नयी कहानी, नयी कविता तथा उस दौर में लिखे गये उपन्यास एवं नाटक आजादी के बाद के हिंदी साहित्य को एक बड़ी उपलब्धि प्रदान करते हैं। मुश्किल तब होती है, जब नामवर सिंह बातचीत के क्रम में 1964 के बाद के अकहानी, अकविता और 1967 के किसान आंदोलनों से जुड़े प्रतिरोध, संघर्ष एवं संघर्ष में मारे गये लोगों एवं उस दौर की रचनात्मक स्मृतियों कोे विस्मृत कर देते हैं। एक प्रतिबद्ध आलोचक की तरह मैनेजर पाण्डेय नामवर सिंह के इस आलोचनात्मक मूल्यांकन को बहस के केंद्र में खड़ा करते है तथा नामवर सिंह के सांस्क्ृतिक नवजागरण की धारणा का विरोध करते हुए प्रतिरोध की इस समानांतर धारा को इतिहास लेखन का आधार बनाने की वकालत करते है। इतना ही नहीं, स्वातंत्र्योतर हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की समस्याओं पर विस्तार से चर्चा करते हुए स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की समस्याएं लेख में वे नामवर सिंह द्वारा 'सांस्कृतिक नवजागरण' पर चर्चा के क्रम में छोड़ दिये गये सवालों को उठाते है तथा कहते है कि ''विचारणीय यह है कि इस तथाकथित सांस्कृतिक नवजागरण की भूमि क्या है? इस काल-खण्ड में देश का बंटवारा हुआ, अभूतपूर्व सांप्रदायिक दंगों के भीषण हत्याकाण्ड में देश डूब गया, गाॅंधी की हत्या हुई, प्रगतिशील आंदोलन से जुड़े कलाकारों , साहित्यकारों, पत्रकारों, रंगकर्मियों, पत्र-पत्रिकाओं का कठोर दमन किया गया, तेलंागाना के हजारों क्रांतिकारियों की निर्मम हत्या हुई, राजनीति और साहित्य में क्रांतिकारी शक्तियों का विघटन और बिखराव हुआ, और शोषक वर्ग की सत्ता क्रमशः मजबूत होती गई।'' (साहित्य और इतिहास दृष्टिः मैनेजर पाण्डेय, संस्करणः 2009, पृष्ठ 221)

स्पष्टतः 1947 के बाद के तथाकथित सांस्कृतिक नवजागरण पर यह एक जटिल सवाल है जो किसी भी आलोचक के सामने मुश्किल पैदा करेगा; परंतु, मैनेजर पाण्डेय जिस साहस और प्रतिबद्धता के साथ इन सवालों को उठाते है; उसका जितना गहरा संबंध हिदी आलोचना एवं विचार की दुनिया के साथ है, उतना ही राष्ट्र की उन सामाजिक अस्मिताओं के साथ भी हैं जिन्हें गौण मानकर मुखधारा की दुनिया विस्मृत कर देती है। चाहे वह स्त्री अस्मिता का सवाल हो या दलित अस्मिता का अथवा आदिवासी अस्मिता का या इन अस्मिताओं के परे उन शोषित एवं वंचित अस्मिताओं का जिनका संबंध किसी भी वंचित-उपेक्षित समूह या समुदाय अथवा जाति होता है। आज के साहित्य का गहरा संबंध इन अस्मिताओं के साथ है जिसे समझने की कोशिश पिछली सदी के आठवें दशक से साहित्य के अध्येता लगातार करते आ रहे हैं। खास बात यह है कि रामविलास शर्मा एवं नामवर सिंह जैसे हिंदी के दोनों बड़े आलोचक चिंतन की प्रक्रिया में 1964 के बाद के संदर्भों एवं उन ऐतिहासिक परिघटनाओं को आलोचना का विषय नहीं बनाते है जिनपर आज '90 के बाद का साहित्य खड़ा है। चर्चा

करते भी है तो अस्मितावादी या हाशिये के समाज के साहित्य को लेकर वे बहुत साकारात्मक नहीं है। जबकि यह सच है कि इन परिघटनाओं ने सामंतवाद और पूॅजीवाद के गठजोड़ से '70 के दशक में खेतिहर मजदूरों और उपेक्षित-वंचित समुदायों को ताकत प्रदान किया था तथा गाॅधी के किसान आंदोलन से परे जाकर कृषि-संघर्ष को दासता की बेड़ियों से मुक्त किया। उसी समय जमींदारी प्रथा का भी अंत हुआ तथा भूमि-सुधार की प्रक्रिया शुरू कर तत्कालीन सरकार ने पिछड़े समाज को बराबरी के सतह पर लाने की कोशिश की। फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास परती परिकथा इसका एक बड़ा उदाहरण है जिसकी तारीफ मैनेजर पाण्डेय हमेशा करते रहते है। बाबा नागार्जुन के बलचनमा में जहाॅ समस्या की जड़ में जाने की कोशिश है, वहाॅ रेणु के उपन्यास में उसके राजनीतिक-सामाजिक समाधान के प्रयास। यहाॅ इस बात का उल्लेख करना जरूरी है कि तत्कालीन हिंदी आलोचना की मुख्यधारा ने उन लेखकों को भी विस्मृत कर दिया जो इस तरह की परिघटनाओं की ऊपज थे तथा जिससे ग्रामीण जीवन की संरचना एवं साहित्य तथा शहरी जीवन की मध्यवर्गीय चेतना में बड़ा परिवर्तन आया था। हिंदी में धूमिल, राजकमल चैधरी, कुमार विकल, जगदंबा प्रसाद दीक्षित, आलोक घन्वा, गोरख पाण्डेय, विजेंद्र अनिल, संजीव, अरूण प्रकाश, विजयकांत, मनमोहन, रामकुमार कृषक, सुरेश कांटक, कात्यायनी आदि जैसे लेखक या बाद के दलित आदि आंदोलनों से जुड़े ओमप्रकाश वाल्मीकि, धर्मवीर, मोहनदास नैमिषराय, कंवल भारती, राजकुमार पासी आदि इसी प्रकार की परिघटनाओं की ऊपज थे जिन्हें आलोचना की मुख्यधारा ने कभी ठीक से चर्चा का विषय ही नहीं बनाया और कभी नाम लिया भी तो ऐसे कि उनके न होने से भी हिंदी का सोलहों आना वैसा ही रहता, जैसा कि पहले था।

स्पष्टतः, मैनेजर पाण्डेय की असहमति नामवर सिंह की उन धारणाओं से नहीं है जिनका संबंध नयी कहानी, नयी कविता, उपन्यास, नाटक या आंचलिकता से है। वे इस दौर की रचनाशीलता का समर्थन करते है।बल्कि उन्हें दिक्कत तब होती है जब नामवर सिंह उस दौर में रचित साहित्य और उसके इतिहास को सांस्कृतिक नवजागरण से जोड़ते है और रचना की उस धारणा पर सवाल खड़ा करते है जिसे वे नव-रोमांटिक कहकर संबोधित करते है। यद्यपि, नामवर सिंह 1947 के बाद के साहित्य को जब नव-रोमांटिक कहकर संबोधित करते है, तब उनके ध्यान में 1947 के बाद की कविता में उभरकर आयी रागात्मकता एवं गीतात्मकता का होना एवं कहानी तथा उपन्यास में उदित आंचलिकता की धारा का केंद्र में आने से है जो जीवन में आये एक नये प्रकार के सम्मोहन-बोध का निर्माण करती हैं। परंतु, मैनेजार पाण्डेय को लगता है कि इस प्रक्रिया में उस दौर में लिखा गया वह यथार्थवादी साहित्य मूल्यांकन से बाहर हो जाता है जिसकी बुनियाद समकालीन समय के सवालों से हैं तथा जो समय के यथार्थ से सीधे मुठभेड़ करती हैं एवं जिनमें वृहत्तर समाज की गहरी पीड़ा और संघर्ष दर्ज हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि इस दृष्टि से मूल्यांकन की प्रक्रिया में बहुत सारे लेखक साहित्य एवं विचार की दुनिया से बाहर हो जाते हैं। उन्हें न तो हिंदी आलोचना में जगह मिलती है और न ही साहित्य के इतिहास में। मैनेजर पाण्डेय ऐसे लेखकों की चिंता करते हैं, उनके अंदर मौजूद समकालीन समय के सवालों को गहरी संवेदनशीलता के साथ पकड़ने की कोशिश करते है तथा उनकी चिंताओं को मुख्यधारा के साहित्य चिंतन का हिस्सा बनाते है। स्त्री, दलित, आदिवासी साहित्य पर बात करना और उन्हें समकालीन विचार का हिस्सा बनाना उनकी इसी सोच का हिस्सा है। इसी प्रकार, वे जिस गहरी संवेदना के साथ वे मुक्तछंद के पहले कवि महेश नारायण आदि जैसे विस्मृत रचनाकार या महादेवी वर्मा के छायावादी व्यक्तिव की बजाय उनकी श्रृंखला की कड़ियाॅ आदि जैसे गद्य लेखन को स्त्री मुक्ति आंदोलन की प्रतिनिधि रचना मान; गंभीर एवं प्रतिबद्ध लेखन का हिस्सा मानते हुऐ विचार प्रक्रिया का हिस्सा बनाते है वह उनके आलोचनात्मक विवेक का एक बड़ा उदाहरण है। यद्यपि उनसे भी बहुत सारी चीजें छूट जाती है; जैसे 1890 से लेकर सन् 1930-35 के बीच का राधामोहन गोकुल का लेखन आदि। यद्यपि महेश नारायण, राधामोहन गोकुल, देवनारायण द्विवेदी आदि कई लेखकों की चर्चा आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी नहीं करते है और उसपर दुर्भाग्य यह कि उनका देखा-देखी या यूॅ कहें कि साहित्य के इतिहास लेखन के प्रथमिक स्रोतों के लिए बाद के अधिकांश इतिहासकारों द्वारा आचार्य रामचंद्र शुक्ल पर निर्भरता के कारण इस प्रकार के

अनेक लेखक इतिहास में आने से रह जोते है। पर, देवनारायण द्विवेदी की देश की बात जैसे लेखक और उनकी पुस्तकों की चर्चा कर मैनेजर पाण्डेय इस कमी को पूरा करते है। ज्ञातव्य हो कि देवनरायण द्विवेदी उन लेखकों में से रहे है जो महावीर प्रसाद द्विवेदी, सखाराम गणेश देउस्कर आदि की तरह 1890 के बाद के ब्रिटिशकालीन भारत के आर्थिक-सामाजिक मुद्दों पर हिंदी साहित्य के इतिहास के द्विवेदी-काल (1900-1918) में किताबें लिखते हैं और सरकार के कोप का शिकार भी होते है।। इस तरह के साहित्य का मूल्यांकन करते हुए मैनेजर पाण्डेय उसके सैद्धांतिकीकरण का प्रयास करते है तथा उसे वृहत्तर सामाजिक समूहों का हिस्सा मानते हुए साहित्य के केंद्र में खड़ा करते है।

वास्तव में, साहित्य और विचारधारा की दुनिया नये विचारों से जितना आतंकित होती है, उतना ही समाज की चुप्पी से भी। संकट का समय ऐसा ही होता है, जब कई बार लेखक अथवा आलोचक उन सवालों पर बातचीत करने से कतराते हैं, जो सत्ता के लिए असहज होते हंै। लेकिन यह वही दौर होता है, जब लेखक अपने समय के अच्छे-बुरे सवालों से टकराते हुए दुनिया को समझने के नये दर्शन विकसित करता है। भारतीय चिंतन और दर्शन में ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद है जहाॅ संकट के समय महात्मा बुद्ध जैसे विचारकों ने जीवन और जगत को समझने के लिए दुनिया को एक नया मार्ग दिया। आज के समय के सवालों से टकराते हुए जब ये आलोचक गाॅधी, अंबेडकर और मार्क्स की चर्चा करते है, तब वे कहीं-न-कहीं समकालीन विमर्श के बहाने समाज के सच को ही समझना चाहते है। उनका पूरा वैचारिक लेखन एक दार्शनिक की तरह अपने समय के सवालों से संवाद करते हुए इस भारत देश और दुनिया को ही समझने का प्रयास है। शायद, आलोचना एवं विचारधारा की दुनिया ऐसे ही काम करती है; समाज तो अपनी गति से चलता ही रहता है।

देवेंद्र चैबे

चर्चित लेखक और शिक्षाविद। कहानी, आलोचना, इतिहास, संपादन, कविता, अनुवाद कार्य आदि से संबंधित करीब पंद्रह पुस्तकें प्रकाशित। कहानी-संग्रह कुछ समय बाद और आलोचना-इतिहास की प्रकाशित पुस्तकों में समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, साहित्य का नया सौंदर्यशास्त्र, 1857ः भारत का पहला मुक्ति संघर्ष, आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, आलोचना का जनतंत्र, हाशिये का वृतांत्त, आधुनिक भारत के इतिहास लेखन के कुछ साहित्यिक स्रोत आदि काफी चर्चित। लेखक और विजीटिंग प्रोफेसर के रूप में जापान, माॅरिशस, उज्बेकिस्तान आदि देशों की यात्राएॅ। 2000 में भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय से लेखकों को राष्ट्रीय फेलोशिप प्राप्त देवेंद्र चैबे फिलहाल, भारतीय भाषा केंद्र; भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान; जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली (भारत) में प्रोफेसर है।